आसोज शुक्ल ४, मंगलवार, दिनांक - ०२-१०-१९६२
गाथा - ७४ से ७८, प्रवचन-८

विसल्यं सल्य मुक्तस्य, क्रीयते ध्यान सुद्धयं।
परमानंद आनंदं, परमात्मा परमं पदं॥७४॥

पहले मोक्षार्थी को शल्यरहित होना चाहिए। शल्य अर्थात् मिथ्या श्रद्धा क्या है? और निदान क्या है? और माया शल्य क्या है? तीन को समझकर पहले छोड़ना चाहिए। यह छोड़े बिना उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं होते। समझ में आया? देखो, **शल्यरहित महात्मा... 'सल्य मुक्तस्य'** पहला शब्द लिया। **'विसल्यं' शल्यरहित निर्मल धर्मध्यान कर सकता है...** जिसकी श्रद्धा में वास्तविक दृष्टि आयी नहीं, जिसके ज्ञान में यथार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय, विकार क्या है? किस प्रकार बन्ध से होता है? उसे दर्शन-ज्ञान का ध्यान होता नहीं। समझ में आया? देखो! यह तारणस्वामी ७४ में कहते हैं।

शल्यरहित हो, वह विशल्य अपना निर्मल धर्मध्यान कर सकता है। तो अभी खबर भी नहीं मिथ्यात्व क्या है? मिथ्याज्ञान क्या है? अपना शुद्धस्वरूप कैसे प्राप्त होता है? विकार की मर्यादा कितनी है? संयोग की हद कितनी है? उसकी खबर बिना यह स्वाध्याय करे तो भी उसकी दृष्टि निर्मल नहीं होती। क्योंकि दृष्टि में शल्य भरी है। समझ में आया? जिसे दृष्टि में शल्य पड़ा है, वह अपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान का ध्यान नहीं कर सकता।

'परमानंद आनंदं' जो परम आनन्द देनेवाला है। उत्तम ध्यान है। अपनी शान्ति जो आनन्द श्रद्धा-ज्ञान में आता है, वह ध्यान आनन्द का देनेवाला है। **'आनंदं, परमात्मा परमं पदं'** वह **आनन्दमय परमात्मा का उत्तम पद प्राप्त होता है।** शल्यरहित आत्मा शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान करने से आत्मा का आनन्द आता है। उस आनन्द से परमानन्द परमात्मा की प्राप्ति होती है। कहो, सेठी! उसमें ऐसा भी कहा कि बीच में रागादि, आकुलता शुभादि आते हैं, वह आकुलता है, वह आनन्द नहीं और वह आकुलता परमानन्द परमात्मा की प्राप्ति का उपाय भी नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षणिक तो आकुलता हुई न? आकुलता है, वह अनाकुल मोक्ष आनन्द की प्राप्ति का कारण नहीं, ऐसा ७४वीं गाथा में कहते हैं। ७५ (गाथा)।

लोकालोकं च वेदंते, विस्वमानो सुयं प्रभो।
कुन्यानं विलयं जांति, न्यानं भुवन भास्करं॥७५॥

क्या कहते हैं देखो, कहते हैं कि '**विस्वमानो सुयं प्रभो' वर्तमान उपलब्ध श्रुतज्ञान भी...** उसमें भी इतनी ताकत है। सम्यक् श्रुतज्ञान। भले केवलज्ञान न हो, परन्तु वर्तमान श्रुतज्ञान है, इतना ज्ञान करने से भी '**लोकालोकं च वेदंते**' लोक और अलोक का स्वरूप क्या है, वह सब इसके ज्ञान में आ जाता है। शोभालालजी! कहो, देखो, '**विस्वमानो सुयं प्रभा**' है? जितना सम्यक् श्रुतज्ञान वर्तमान में है, उसका वर्तमान सम्यक् ज्ञान यथार्थ आत्मा-सन्मुख होकर करने से '**लोकालोकं च वेदंते**' लोक और अलोक का क्या स्वरूप है? उसमें क्या वस्तु है? अरिहन्त क्या? सिद्ध क्या? आचार्य, उपाध्याय, साधु, मोक्षमार्ग क्या? बन्धमार्ग सबका ज्ञान, भावश्रुतज्ञान विद्यमान है, उसमें इन सबका ज्ञान आ जाता है। समझ में आया? पण्डितजी! लोकालोक का ज्ञान श्रुतज्ञान में आ जाता है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है, दूसरा कोई अन्तर नहीं। केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है, परन्तु सम्यक् श्रुत में पूर्ण लोकालोक का ज्ञान जानने की सामर्थ्य है। सम्यग्दर्शन के साथ, अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव के साथ जो भावश्रुतज्ञान की प्राप्ति विद्यमान वर्तमान है, उसमें भी लोकालोक जानने की सामर्थ्य है। कहो, समझ में आया?

'भुवन भास्करं न्यानं कुन्यानं विलयं जांति' इस जगत प्रकाशी ज्ञान से... लोकालोक कहा न पहले? अन्तर में भावश्रुतज्ञान प्रकाशी ज्ञान से **मिथ्याज्ञान का...** विलय अर्थात् **नाश हो जाता है।** उसमें मिथ्याज्ञान रहता नहीं। परन्तु सम्यग्ज्ञान करे तब न। ज्ञान की खबर नहीं। मात्र स्वाध्याय करे परन्तु सम्यग्ज्ञान क्या है, उसकी खबर नहीं। पढ़ डाले... पढ़ जाये। समझ में आया? पढ़ लिया और छोड़ दिया। क्या है उसमें? यह निश्चय क्या? व्यवहार क्या? उपादान कौन? निमित्त कौन? विकार कौन? निर्विकार कौन? निमित्त संयोगी चीज़ क्या उपस्थित है? उससे अपने में कौनसा कार्य नहीं

होता ? नहीं होता। उसकी खबर नहीं। तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान उसे होता नहीं। और सम्यग्ज्ञान बिना लोकालोक का ज्ञान भी होता नहीं और ऐसे सम्यग्ज्ञान से सब कुज्ञान का विलय अर्थात् नाश हो जाता है। समझ में आया ?

इसमें कहा है न उसमें, भाई! मूलगुण पहले लिये। मूलगुण कहते हैं न कि हमारे मूलगुण चाहिए। यह पृष्ठ २०७ है। मूलगुण पहले चाहिए न मूलगुण। पण्डितजी! देखो। यह गाथा ३८३। यह मूलगुण-मूलगुण कहते हैं न। श्रावक के गुण और मुनि के मूलगुण। गाथा ३८३। ८३ कहते हैं न ? क्या कहते हैं तुम्हारे ? ३, ८ और ३। देखो, मूलगुण क्या है ? पहले मूलगुण उसे कहते हैं और मूलगुण पहले होना चाहिए। श्रावक को भी मूलगुण यह कहते हैं न आठ मूलगुण ? यह आठ उदम्बर आदि का त्याग, परन्तु वह तो व्यवहार के हैं। मूलगुण परमार्थ के दूसरे हैं, ऐसा यहाँ तारणस्वामी कहते हैं। समझ में आया ? और साधु को अट्ठाईस मूलगुण। है न अचेल और वह ? वह तो व्यवहार है। परमार्थ मूलगुण श्रावक-मुनि के दूसरे हैं, वह यहाँ ३८३ गाथा में कहते हैं, देखो!

गुन रुव भेयविन्यानं, न्यान सहावेन संजुत्त धुव निस्वं।
मूलगुनं सुंसुद्धं, उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं॥३८३॥

क्या कहते हैं, देखो। **गुण स्वरूप उपयोगी भेदविज्ञान है, जिसके द्वारा...** गुणस्वरूप उपयोगी भेदविज्ञान। यह राग और विकल्प से अपना भेद करना, अन्दर जाना, वह मूलगुण है। समझ में आया ? यह सब मूलगुण-मूलगुण का शोर मचाते हैं न ? तो यहाँ तारणस्वामी ने यह मूलगुण अन्तर में घटित किये हैं। अब तेरे निश्चय मूलगुण बिना तेरे व्यवहार मूलगुण कहाँ से आये ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह पाँच उदम्बर फल नहीं खाना। आता है न, तीन म-कार। मद्य, मधु... समझ में आया ? मांस नहीं खाना। वह तो विकल्प शुभराग है। वह वास्तव में मूलगुण नहीं। वह तो व्यवहार मूलगुण है, जब यह निश्चय मूलगुण हो तो। इस निश्चय मूलगुण बिना तेरे आठ मूलगुण भी व्यवहार मूलगुण नहीं कहे जाते। सेठी!

और मुनि को जो विकल्पात्मक अट्ठाइस मूलगुण कहे गये हैं, वह भी वास्तव में मूलगुण नहीं। वह तो व्यवहार मूलगुण है। ऐसे निश्चय मूलगुण बिना व्यवहार मूलगुण

उसे नहीं कहे जाते। कहो, कैसी बात की है ? ...लालजी ! देखो, पढ़ा भी नहीं कभी। कभी पढ़ते नहीं। धन्धा... धन्धा... धन्धा... पण्डितों को भी धन्धा और सेठियों को भी धन्धा। तो कहते हैं कि पहले अपना भेदज्ञान ही अपना वैश्य का व्यापार है। भेदज्ञान वह ज्ञानरूपी वैश्य व्यापार का वह धन्धा है। भेदविज्ञान अपना वैश्य-व्यापार है। राग और पुण्य और निमित्त से मैं पृथक् हूँ, ऐसा ज्ञान करना, वही ज्ञान का व्यवसाय और ज्ञान का वैश्यपने का व्यापार है। शोभालालजी ! यह तो कभी सुना भी नहीं होगा कि वैश्य क्या है ? हम बनिया हैं। बनिया कहाँ से हुआ तू ? बनिया कहाँ से आया ?

अपने में देखो, **'गुन रुव भेयविन्यानं' गुण स्वरूप उपयोगी भेद विज्ञान है,...** समझ में आया ? पहले में पहला विकल्पादि शुभराग है, कर्म आदि का उदय है, उसे मैं पर पृथक... पृथक... पृथक... पृथक... पर से पृथक् हूँ, ऐसे गुण में मूलगुण भगवान त्रिलोकनाथ ने कहा है। कहो, पण्डितजी ! क्या मूलगुण है ? पहले पढ़ा था कि मूलगुण क्या है ? लो, पढ़ा ही नहीं। तो कहते हैं देखो, **जिसके द्वारा... 'न्यान सहावेन संजुत्त धुव निस्चं मूलगुणं' ज्ञान स्वभावमयी अविनाशी आत्मा का अनुभव होता है, उसे धारना सो ही निश्चय शुद्ध मूलगुण है।** है ? देखो, इसमें यह लाईन रखी है, हों ! अन्तिम है न तुम्हारे तो माल अन्दर आ गया। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? अहो ! भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव चैतन्यप्रभु अविनाशी आत्मा का अनुभव होता है, उस अनुभव से धारणा होती है कि यह आत्मा। उस अनुभव से धारणा होती है कि यह आत्मा। यही निश्चय शुद्ध मूलगुण है। समझ में आया ?

और **'उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं'** यह मूलगुण के बाद, ऐसे मूलगुण होने के बाद **इसी आत्मध्यान को रागादि दोषरहित अति निर्मल धारण करना उसी को बढ़ाते जाना उत्तरगुण है।** सेठी ! अपना शुद्ध स्वभाव राग से भिन्न करके पहले भेदज्ञान करना, वही भेदज्ञान उपयोग का करना, वही मूलगुण है। फिर क्रम... क्रम... क्रम से... राग की अस्थिरता टालना और स्थिरता बढ़ाना, वह उत्तरगुण है। समझ में आया ? यह मूलगुण और उत्तरगुण बिना तेरा व्यवहार मूलगुण और उत्तरगुण, उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता। तेरा अकेला व्यवहार वह फोक (व्यर्थ) है। पुण्यबन्ध का कारण है। उसमें कोई आत्मा का कल्याण है नहीं। कहो, समझ में आया ?

पश्चात् ३८४ (गाथा)।

उत्तर ऊर्ध सहावं, ऊर्धं तव विमल निम्मलं सहसा।
सुध सहावं पिच्छदि, उत्तर गुन धरंति सुध ससहावं॥३८४॥

उत्तर गुण श्रेष्ठ आत्म स्वभाव को प्राप्त करना है... क्रम-क्रम से शुद्धि वीतरागी परिणति की प्राप्ति करना, उसे भगवान त्रिलोकनाथ जिन उक्तं—जिन ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वीतरागी ने ऐसा कहा है, ऐसा तारणस्वामी कहते हैं। हम कहते नहीं, हमारे घर की बात नहीं। समझ में आया? देखो, **रागादि से सहित श्रेष्ठ प्रत्यक्ष केवलज्ञान... वह अकस्मात् चार घातियाकर्मों से रहित रागादि से रहित श्रेष्ठ प्रत्यक्ष केवलज्ञान...** होता है। **तब आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, यही शुद्ध स्वाभाविक उत्तर गुणों का धारण है।** लो! उत्तर अर्थात् प्रधान। उत्तर का अर्थ ऐसा लिया। मूल में भेदविज्ञान लिया, उत्तर में प्रधान केवलज्ञान लिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रम-क्रम से उत्तर है न। उत्तर अर्थात् प्रधान, उत्तर अर्थात् प्रधान, उत्कृष्ट और मूल अर्थात् मूल। तो मूलगुण उसे कहते हैं कि विकार व्यवहार विकल्प से पृथक् अपने भेदज्ञान का उपयोग करना, वह मलूगुण है। और पश्चात् उत्तर अर्थात् प्रधान स्वरूप में एकाकार होकर चार घाति (कर्म) का नाश होकर, क्रम-क्रम से शुद्धि की वृद्धि होती जाये, तब केवलज्ञान प्राप्त करना, उसे उत्तरगुण कहते हैं। लोगों को कठिन पड़े, हों! यह तो निश्चय। परन्तु तेरे निश्चय बिना व्यवहार आया कहाँ से? यह कहते हैं यहाँ तो। हम मूलगुण पालते हैं... मूलगुण पालते हैं... मुनि अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं। क्या आया? समझ में आया?

शुद्ध स्वाभाविक उत्तर गुणों का धारण है। लो! फिर जरा ३८५ मुनि की प्रधानता से बात करते हैं न!

मूल उत्तर संसुद्धं, सुधं सम्मत्त सुध तवयरनं।
तिक्तंति चेल सहावं सुधं सम्मत्त धरन संसुद्धं॥३८५॥

जिसके मूलगुण व उत्तरगुण शुद्ध हैं... पहले कहे ऐसे, पहले कहे ऐसे। जिसे

भेदज्ञान रागरहित शुद्धि की प्राप्ति है और उत्तरगुण में भी शुद्धि की वृद्धि होती है। '**सुधं सम्मत्त सुध तवयरनं**' **जहाँ शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व है...** शुद्ध समकित कहा है न? मूल तो निश्चय समकित है। जहाँ निश्चय सम्यक् है और **शुद्ध आत्मरमण रूप व आत्मपन रूप तपश्चरण है।** यह तपस्या। यह अपवास-बपवास करना, वह तो शुभराग है। परन्तु अपने स्वरूप में, देखो, '**सुधं सम्मत्त सुध तवयरनं**' निज आत्मरमण में आत्मतपन करना और अन्दर शुद्धता की वृद्धि करना। जैसे सोना में गेरुं लगाते हैं न गेरुं? गेरु कहते हैं न? तो सोना में ओप आती है। आप—शोभा होती है। इसी प्रकार अपना आत्मा राग अर्थात् व्यवहार से भिन्न करके भेदज्ञानरूपी मूलगुण प्राप्त किये, पश्चात् अन्तर शुद्ध गुण में वृद्धि करने से निर्मल आत्मा शोभता है। उसे उत्तरगुण कहा जाता है। कहो, समझ में आया? परन्तु यह कहते हैं, जरा लेते हैं। और कोई मुनि नाम धरावे और वस्त्र-पात्र रखे और कहे कि हम भी मुनि हैं। तो ऐसा नहीं है।

ऐसे मूलगुण-उत्तरगुण धरनेवाले '**तिक्तंति चेल सहावं**' **जहाँ वस्त्र परिधान के समान सर्व परभावों का त्यागमयी स्वभाव है...** देखो, मुनि को वहाँ वस्त्र तो छूट गये हैं परन्तु जहाँ रागादि परिधान—ढांकण, गुण को ढांकते हैं, वह राग भी छोड़ दिया है। समझ में आया? '**तिक्तंति चेल सहावं**' '**सहावं**' शब्द पड़ा है न भाई इसलिए '**चेल सहावं**' ऐसा। वस्त्र जैसा स्वभाव। किसका? राग का। राग का वस्त्र जैसा स्वभाव है। राग अपने को ढांक देता है। समझ में आया? **जहाँ वस्त्र परिधान के समान सर्व परभावों का त्यागमयी स्वभाव है, जहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन का निश्चय से धारना है। यही यथार्थ साधुपना है।** उसे मूलगुण और उत्तर गुणवाले साधु कहा जाता है। कहो, समझ में आया? पश्चात् तो अन्दर के वस्त्र की व्याख्या ली है। यह तो पाँचों ही अन्दर में घटित किये हैं। यह वस्त्र है न अन्दर में? वह भी आत्मा में घटित किये हैं। कहो, यहाँ आये। ७५ गाथा हुई। ७६ (गाथा)।

पूर्वं पूर्व उक्तं च, द्वादसांगं समुच्चयं।
ममात्मा अंग सार्धं च, आत्मनं परमात्मनं॥७६॥

लो, समुच्चय आया यह। ज्ञानसमुच्चय (सार) है न?

अहो! **द्वादशांग का तथा हर एक पूर्व का सार यही कहा गया है... 'उक्तं'** शब्द पड़ा है न? त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवादिदेव जैन परमेश्वर ने '**उक्तं**' अर्थात् ऐसा कहा है कि **द्वादशांग का तथा हर एक पूर्व...** बारह में से सब पूर्व। **यही कहा गया है... 'ममात्मा अंग सार्धं च' यद्यपि मेरा आत्मा शरीरसहित है...** सम्बन्ध में दिखता है। **तथापि निश्चय से यह आत्मा परमात्मा है ऐसा जाननेयोग्य है।** शरीर की पर्याय को स्पर्शा नहीं, ऐसा बारह अंग में सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ कहते हैं। समझ में आया? ओहो! शरीर उसकी—जड़ की पर्याय है। अरे! विकार, वह भी मलिन पर्याय है। उससे रहित द्वादशांग के सार में और पूर्व के सार में भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्र परमात्मा जिनपति ने फरमाया कि तेरा आत्मा विकार और शरीर को स्पर्शा ही नहीं। ऐसी तेरी वस्तु है, वह द्वादशांग ज्ञानसमुच्चयसार का सार है। समझ में आया? ...लालजी! ओहोहो! फिर जरा कहते हैं। ७७-७८ (गाथा)।

संमिक् दर्सन सुधं च, न्यानं सुद्ध मयं धुवं।
चरनं सुद्ध पदं सार्धं सहकारेण तपं धुवं॥७७॥
आराहनं च चत्वारि, भावनं सुध चेयनं।
मय मूर्ति समं सुधं, अप्पा परमप्प संजुतं॥७८॥

दो गाथायें साथ में हैं। क्या कहते हैं?

अहो! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा बारह अंग में साररूप सार मक्खन क्या कहा है? कि **शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन है।** पूर्णानन्द परमात्मा अखण्ड शुद्ध है, उस प्रकार उसमें सन्मुख होकर परिणाम को स्वभाव सन्मुख करके प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन करना, वह बारह अंग में साररूप कहा है। समझ में आया? पहले सम्यग्दर्शन है, देखो! पश्चात् शुभभाव हो, पुण्यबन्ध का कारण बीच में आता है, परन्तु वह चारित्र नहीं और सम्यग्दर्शन का वह विषय भी नहीं। अपने स्वरूप की शुद्ध प्रतीति, अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है और वही शुद्धस्वरूप का निश्चय **स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।** वह ज्ञान का ज्ञान अन्तर में वेदन करना, वह सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञान एक ओर रख दिया। समझ में आया? निश्चय की बात लोगों को कठिन पड़ती है।

समझने की दरकार नहीं। फिर स्वाध्याय करे परन्तु उसमें से ऐसा निकाले कहाँ से ? यह कहते हैं, ऐसा लिखा है, लिखा है ऐसा माने। ऐसा लिखा है, परन्तु लिखा है उसका आशय क्या है ? तो कहते हैं कि स्वसंवेदनज्ञान को भगवान बारह अंग पूर्व में सम्यग्ज्ञान कहते हैं। **'सुद्ध पदं सार्धं चरनं' शुद्ध पदार्थ में तन्मय होना...** लो, यह चारित्र की व्याख्या। भगवान आत्मा पवित्र अखण्डानन्द शुद्ध जो दृष्टि में लिया था, उसमें लीन होना, इसका नाम चारित्र है। कोई वस्त्र का त्याग, महाव्रत पालने का विकल्प, वह चारित्र-फारित्र है नहीं। समझ में आया ?

अब तप कहते हैं—आराधना, भाई ! चार की आराधना। लोग कहते हैं न दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की आराधना करो, आराधना करो। कहते हैं या नहीं ? वह आराधना कौनसी ? विकल्प की आराधना करना है ? जड़ की आराधना, नहीं खाना, उसकी आराधना ? कि नहीं। अपना स्वरूप शुद्ध परमानन्दस्वरूप विकल्प व्यवहाररत्नत्रय से पर, ऐसी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसकी रमणता और **इन तीन रत्नसहित आत्मा में तपना...** देखो, यह तप है। बाकी सब लंघन है। शोभालालजी ! यह घर में स्त्रियाँ कर डालती हैं चार अपवास और आठ अपवास। चलो भाई ! बहुत किया तुमने। लाओ हम गृहस्थ हैं ... दो हजार खर्च डालो। क्या कहते हैं उसे ? उत्सव कहते हैं न ? उद्यापन कहते हैं। उद्यापन कहते हैं या क्या कहते हैं ? सेठिया को घर से स्त्री ने इतने किये। दस पर्व किये। अब अपने प्रमाण में दो-पाँच हजार खर्च करना तो पड़े न ! वरना लंघन की। घर के लोग कहे, दूसरे कहे, लंघन की, तू इतना पैसेवाला है न। है तो लंघन ही, तुझे खबर नहीं। पैसा खर्च करे तो उसका लंघन मिट जाये। ऐसा है ? यहाँ तो कहते हैं कि लंघन है, परन्तु तेरा लंघन कब मिटे ? शुद्ध सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में तपना, अन्दर में रमना, ऐसी अपनी शोभा प्रगट करे तो उसे तप कहते हैं। समझ में आया ? बाहर का तप, वह तो विकल्प है। वह निश्चय हो तो व्यवहार कहा जाता है। निश्चय न हो तो व्यवहार नहीं कहा जाता। समझ में आया ?

ये चार आराधनायें निश्चय से शुद्ध चेतना की भावना हैं... देखो, संक्षिप्त में ले लिया। बहुत संक्षिप्त में। चार आराधना क्या है ? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप क्या है ? संक्षिप्त में ले लिया। **'सुध चेयनं भावनं'** शुद्ध चेतना ज्ञानानन्द चेतनमूर्ति प्रभु की

एकाग्रता से भावना होना, वह चार आराधना है। भावना शब्द से विकल्प नहीं, हों! **'सुध चेयनं भावनं'** उतने बहुत संक्षिप्त शब्द लिये। शुद्ध चैतन्य ज्ञानमूर्ति भगवान के अन्तर में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की एकाग्रता को भगवान बारह अंग में आराधना कहते हैं। यह भगवती आराधना में आता है न। वह यह आराधना है। इस आराधना बिना अकेला कायक्लेश करे, आहार छोड़ दे, वह आराधना करता है? विराधना करता है। समझ में आया?

शुद्ध चेतना की भावना है मिट्टी के मूर्ति के समान शुद्ध रूप से एकाग्रता है... एकाकार मानो सोना की मूर्ति मिट्टी की होती है न? ऐसे अन्तर में एकाकार हो गया। चैतन्य धातु भगवान एकाकार असाधारण स्वभाव जो है, उसमें लीन हो गया। अर्थात् कि आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग कराना। अपनी निर्मल पर्याय द्वारा परमात्मा अर्थात् त्रिकाल शुद्ध स्वभाव का सम्बन्ध कराना, इसका नाम आराधना कहा जाता है। गजब बात, भाई! आराधना। लो, यह पुस्तकें इतनी रखी हैं तो भी इन सेठ ने और इन पण्डितों ने सुना और वाँचा नहीं। पुस्तकें तो बहुत वाँचते हैं। परन्तु यह क्या है? समझ में आया?

भगवान आराधना त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर उसे कहते हैं, तारणस्वामी कहते हैं कि मेरे घर की बात हम नहीं कहते। **'उक्तं च'** वीतराग त्रिलोकनाथ अनन्त परमेश्वर हुए, उन्होंने आराधना के चार प्रकार शास्त्र में बारह अंग में ऐसे कहे हैं। अपने शुद्ध आनन्दकन्द में भावना अर्थात् एकाग्रता होना, इसका नाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की आराधना कहा जाता है। सब व्याख्या ही दूसरी है। समझ में आया?

यह देखो, जरा अनुकम्पा लेना है। थोड़ा-थोड़ा बाकी है न? अनुकम्पा है अनुकम्पा, भाई है न! कहाँ है? यह पृष्ठ १३२। १३२। १३२ है न? गाथा २३७। १३१ पृष्ठ पर है। २३७ गाथा। अनुकम्पा। लोग अनुकम्पा दूसरी कहते हैं, भगवान निश्चय अनुकम्पा दूसरी कहते हैं, यह कहते हैं। समझ में आया?

अनुकंपा जीवानं, थावर वियलेंदिय सयलमप्पानं।
अनुकंप भाव विसुधं असत्य सहितोपि विवरीदो॥२३७॥

क्या कहते हैं, देखो! **समस्त जीवों पर दया भाव अनुकम्पा है।** यह विकल्प व्यवहार है। **स्थावर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक विकलत्रय जन्तु तथा पंचेन्द्रिय जीव सर्व ही प्राणियों पर करुणा भाव... 'असत्य सहितोपि विवरीदो'** असत्य रागसहित है तो भी असत्य से विपरीत है। कौन? यह राग है, वह अनअनुकम्पा है, राग है, पुण्य है, वह अभी अनअनुकम्पा है, अनअनुकम्पा है। तो असत्य ऐसा राग से रहित अपनी श्रद्धा, ज्ञान और निर्मलता करना, उसे भगवान अनुकम्पा कहते हैं। गजब व्याख्या, भाई! पर की अनुकम्पा तो शुभराग है। जो पहले कहा, भाई! परन्तु वह वास्तव में शुभराग को अनुकम्पा व्यवहार से कब कहा जाये? कि असत्य जो नाशवान विकल्प है, दया, दान, व्रत का विकल्प जो राग है, पर की अनुकम्पा का राग दया का, उस राग से रहित, वह राग असत्य है, त्रिकाल सत्स्वरूप नहीं, उससे रहित अपने स्वभाव की एकाग्रता रागरहित दशा को भगवान अनुकम्पा कहते हैं। गजब बात, भाई! कहो, समझ में आया? यह थोड़ा-थोड़ा नमूना उसमें से आ जाता है। सार-सार ज्ञानसमुच्चयसार में से। उसे अनुकम्पा कहते हैं।

पश्चात् २३८ में लिया है।

अनुकंप भाव विसुधं, अप्प सरुवं च चेयना भावं।
अनृत असत्य सहियं, तिक्तंति अनुकंप भावेन॥२३८॥

निश्चय... अर्थात् वास्तव में **अनुकम्पा आत्मा का शुद्ध वीतराग भाव है...** लो, वह एक बार चिल्लाहट मचाते थे। कोलकाता में व्याख्यान में कहा था न। भाई! पर की दया का भाव, वह राग है और निश्चय से तो वह हिंसा है। हाय.. हाय..! यह तो सब उड़ा देते हैं। हम कोलकाता जब गये थे न, तब यह बात व्याख्यान में चलती थी। राग। राग तो राग ही वह पुण्यबन्ध का कारण है, पर की अनुकम्पा, वह वास्तव में अनुकम्पा है नहीं। कौनसी अनुकम्पा है? शुद्ध वीतरागभाव। वह रागरहित भेदज्ञान करके स्वरूप में लीनता की शुद्धता प्रगट करना, उसे भगवान अनुकम्पा और अहिंसा कहते हैं। सब में अर्थ बदल जाता है, हों!

वह आत्मा का निज स्वाभाविक चैतन्य भाव है। देखो! **'अप्प सरुवं च चेयना भावं'** यह अनुकम्पा क्या है? आत्मा का निज शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और निर्मल

परिणति, वह चैतन्यभाव है, उसे भगवान अनुकम्पा कहते हैं। ऐसा तारणस्वामी द्वादशांग के सार में यह आया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? '**अनुकंप भावेन अनृत असत्य सहियं तिक्तंति**' देखो! **इस निश्चय अनुकम्पा के भाव से मिथ्या व क्षणिक रागसहित भाव...** जो शुभाशुभ आदि है, उस **भाव का त्याग हो जाता है।** राग का अभाव हो जाना, दया के भाव का अभाव होना, ऐसे आत्मा में वीतरागभाव होता है, उसे भगवान द्वादशांग में अनुकम्पा और अहिंसा वर्णन करते हैं। समझ में आया? पश्चात् गाथा है न २३९।

दर्संति सुध तत्त्वं, अयं च अप्प गुनेहि दर्संति।
अप्पा परमप्पानं, अनुकंपा लहंति निव्वानं॥२३९॥

निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्म तत्त्व को देखती है... ओहो! क्या देखते हैं? यह शब्द क्यों लिया? कि व्यवहार अनुकम्पा में परजीव दुःखी न हो, ऐसा भाव पर में दिखता है। शुभराग है न, शुभराग, पर की अनुकम्पा। अरे! उसे दुःख न होओ, ऐसे पर को देखता है शुभ अनुकम्पा, शुभराग अनुकम्पा, पुण्यबन्ध अनुकम्पा। यह निश्चय अनुकम्पा किसे देखती है? '**दर्संति सुध तत्त्वं**' अपने शुद्ध आत्मा की ओर सन्मुख दृष्टि करके देखती है। मैं शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि-ज्ञान में अपना शुद्ध तत्त्व देखती है। समझ में आया? ज्ञानसमुच्चयसार।

'**अप्पा' अनुभव कराती है...** क्या? **निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्मतत्त्व को देखती है... 'अयं च अप्प गुनेहि दर्संति' वह आत्मा को आत्मिक गुणरूप ही अनुभव कराती है...** आत्मा तत्त्व को दिखलाती है और वह भाव अनुकम्पा आत्मा का गुण देखती है। अपने गुण निर्मल हैं, उसे देखती है। वीतरागी परिणति द्रव्य और गुण को देखती है और उसमें स्थिर होती है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। समझ में आया? वाडीभाई! यह तुम्हारे वे कहते थे कि सब अर्थ बदल डाले हैं, ऐसा कहते थे। **यह आत्मा परमात्मा रूप है, ऐसी अनुकम्पा निर्वाण में ले जाती है।** बाहर की अनुकम्पा स्वर्ग में ले जाती है शुभराग और राग से रहित भगवान चिदानन्द ज्ञान में अन्दर स्थिरता करना, ऐसी अनुकम्पा निर्वाण में ले जाती है, मोक्ष में ले जाती है। शुभराग की सामर्थ्य नहीं कि मोक्ष

में ले जाये या आत्मा के कल्याण की प्राप्ति में परमार्थ साधन हो, ऐसा साधन है नहीं। व्यवहार साधन को वास्तव में साधन कहते ही नहीं। कहो, समझ में आया?

और दूसरी बात है आहारदान। पृष्ठ १५०। आहारदान किसे कहते हैं? १५०। २८१ गाथा है। देखो, २८१। है? देखो यह परमार्थ शास्त्र के सार में दान क्या है, उसे बताते हैं। यह दान तो है आहार आदि का विकल्प शुभराग, परन्तु ऐसे निश्चय आहारदान देने के शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। वह यहाँ कहते हैं।

भेषज दान स उत्तं, संसारे सरनि व्याधि मुक्तस्य।
भेषज जिन उवएसं, जिनवयनंपि सार्धं तंपि॥२८१॥

'स उत्तं' देखो, कहा है ऐसा, हों! भगवान ने कहा है, ऐसा। हम नहीं कहते। भगवान बारह अंग में कहते हैं।

वह औषधिदान कहा गया है जहाँ संसार में भ्रमणरूपी राग की मुक्ति के लिये जिनेन्द्र के उपदेश रूपी औषधि को ग्रहण किया जाये... जिनेन्द्र का उपदेश, वीतरागभाव का उपदेश है भगवान का। पूरे सार में वीतराग, राग की उपेक्षा कर दे, निमित्त की उपेक्षा कर दे, स्वभाव की अपेक्षा कर दे। क्या कहा, समझ में आया? शुभाशुभराग की उपेक्षा कर दे, निमित्त की उपेक्षा कर दे और त्रिकाल स्वभाव की अपेक्षा कर दे। ऐसा त्रिलोकनाथ परमात्मा का बारह अंग में फरमान है। वह यहाँ तारणस्वामी कहते हैं कि भगवान तो ऐसा ही कहते हैं, भाई! निश्चय के भान बिना तेरे व्यवहार औषधदान, व्यवहार आहारदान, वह वास्तव में गिनने में आते नहीं। समझ में आया?

जिनेन्द्र के उपदेश रूपी औषधि को ग्रहण किया जाये जिनेन्द्र के वचनों को धारण भी किया जाये... परन्तु जिनेन्द्र का वचन कौनसा? कहीं जिनेन्द्र की वाणी धारणा है? जिनेन्द्र वाणी में जो वीतराग श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र कहते हैं, उसे अन्दर धारना, वह वीतराग की वाणी धारण करना है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वाणी तो पर है, जड़ है, उसे क्या धारना? परन्तु उस वाणी में कहा कि शुद्ध चेतनमूर्ति निर्लेप भगवान की दृष्टि, ज्ञान, रमणता कर—ऐसी वीतराग की धारण की, उसने वीतरागभाव को धारण किया। जिनेन्द्र का उपदेश। **और उनके अनुसार साधन भी किया जाये।** देखो!

भेषज दान जिनुत्तं, दव्वं षट् काय पंचत्थं।
नव पयत्थ पदार्थं, तत्तं सप्तं च सुद्ध जानत्थं॥२८२॥

एरिस गुनेहि सुधं, जानदि रुव भेय विन्यानं।
सद्दहंति जिन उत्तं, भेषज दान पयासेई॥२८३॥

लो, यह भेषज दान। औषध-औषध। ऐई! औषध। 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' यह श्रीमद् राजचन्द्र में आता है। आत्मसिद्धि है न! 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान' परन्तु जाननेवाला... सबको गुरु, हम ज्ञानी हैं, ऐसा माने तो चले नहीं। समझ में आया? 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं' कोई दूसरा रोग है ही नहीं। 'सद्गुरु वैद्य सुजान, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं।' उनकी आज्ञा, जिनेन्द्र की आज्ञा, वह पथ्य है। आज्ञा क्या है? राग से रहित तेरी चीज़ का समभाव करो, यह हमारी आज्ञा है। ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव समवसरण में फरमाते हैं। समझ में आया? करना क्या? 'औषध विचार ध्यान।' तेरे शुद्ध स्वभाव का विचार और ध्यान करना, यह तेरा रोग मिटाने की औषधि है। समझ में आया?

यह कहते हैं कि **औषधिदान जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है जहाँ पदार्थ के ज्ञान के लिये व शुद्ध आत्मा के ध्यान के लिये छह द्रव्यों को,...** छह द्रव्य क्या है, उसका ज्ञान करना। **पाँच अस्तिकाय को, नव पदार्थों को तथा सात तत्त्वों को जाना जाये। इन गुणों से युक्त शुद्ध आत्मा के स्वभाव को बतानेवाले भेदविज्ञान को जानता है।** देखो! भेदविज्ञान के बाद यह तत्त्व का बराबर ज्ञान करने में आता है। **'जिन उत्तं सद्दहंति'** देखो, है न? **'जिन उत्तं' तथा जिन कथित मार्ग पर श्रद्धान रखता है, वही औषधिदान को प्रकाश करनेयोग्य है।** यह आत्मा का संसार नाश करने की औषधि है। बाहर की औषधि तो सब... कहाँ दुर्गादासजी! यह औषधि आयी तुम्हारी। फोगट। फोगट की औषधि कहते हैं। अब आहारदान। २८४ (गाथा)।

पत्त कुपत्तं जानदि, भेषज उवएस सुधमप्पानं।
जे भव्य जीव साहं, ते जर मरन विनासेई॥२८४॥

जो पात्र, कुपात्र को पहचानता है... सम्यग्ज्ञानी को पात्र की और अपात्र की बराबर पहिचान होती है। ऐसे का ऐसा बिना भान के नहीं चलता कि यह पात्र है और ऐसा, ब्रह्मचर्य पालता है और ऐसा पात्र है, ऐसा नहीं। अन्दर सम्यग्दर्शन-ज्ञान विवेक क्या है ? विवेक किसे नहीं ? ऐसा बराबर समझता है। **शुद्ध आत्मा का अनुभव कराने के लिये उपदेशरूपी औषधि देता है...** पात्र तो वह है कि **शुद्ध आत्मा का अनुभव कराने के लिये उपदेश रूपी औषधि देता है...** उसका उपदेश ऐसा होता है सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि का। और **उसका ग्रहण कर जो भव्य जीव साधन करता है, वह जरा व मरण का नाश कर देता है।**

आहारदान सुधं, न्यानं आहार दिंति पत्तस्य।
तिक्तंति जीव आहारं, न्यान आहार कुनय भव महनं ॥२८५ ॥

ओहोहो! आहार की व्याख्या की, देखो! **शुद्ध आहारदान यह है कि पात्र को ज्ञान का आहार दिया जावे...** उस पात्र को ज्ञान का आहार दिया जाये। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान शुद्ध चैतन्य का ज्ञान देना, उसका नाम वास्तव में आहारदान कहा जाता है। व्याख्या भी सब अलग। समझ में आया ? यह आहारदान होता है, पात्र को होता है, शुभराग है। परन्तु पश्चात् अन्तर ज्ञान की एकाग्रता से ज्ञान के शुद्धभाव का घोलन करके शुद्ध उपदेश देना, वही वास्तव में आहारदान में ज्ञानदान गिनने में आता है।

स्थावर जीवों के घात से बना आहार त्याग कराया जावे... बाहर से स्थावर जीवों के घात का त्याग अन्तर में से राग का त्याग करावे और स्थिरता। **ज्ञान का भोजन खिलाना मिथ्यानय से प्राप्त अज्ञान को व संसार के भय को दूर करनेवाला है।** मिथ्याज्ञान का नाश करना और सम्यग्ज्ञान का भोजन कराना, इसका नाम वास्तव में अन्नदान कहा जाता है। आहाहा! देखो, है या नहीं इसमें ? **तिक्तंति जीव आहारं, न्यान आहार कुनय भव महनं'** ऐसा है। फिर आहार की व्याख्या। अभयदान की व्याख्या है। ....

अब अतिथि लेना जरा अतिथि है न, भाई! २७१ पृष्ठ पर है। २७१ है। २७१। **'अतिथि सुयं विभाग'** यह अतिथिसंविभाग आता है न बारहवाँ व्रत। साधु को अतिथिसंविभाग व्रत (होता है)। गाथा ४९६। है ?

अतिथि सुयं विभागं, मिथ्या मय राग दोस विरयंतो।
अन्यानं नहु पिच्छै, सुध सहावं च पिच्छए अप्पा॥४९६॥

अपने आत्मारूपी अतिथि... देखो, अपना आत्मा तिथि रहित है, त्रिकाली चीज़ है। उसे कोई काल लागू नहीं पड़ता। तिथि नहीं, अतिथि। त्रिकाल ज्ञानानन्द ध्रुव आत्मा अतिथि है, अपना आत्मा अतिथि। **अर्थात् साधु को...** अपने आत्मारूपी साधु को **आत्मानुभव का प्रदान करना...** आत्मा के अनुभव के आनन्द का दान देना। अतीन्द्रिय आत्मा का आनन्द साधु को देना, इसका नाम अतिथिसंविभाग व्रत कहा जाता है। आहाहा! अरेरे! समझ में आया? '**अतिथि सुयं विभागं**' लिखा है न!

मिथ्यात्व, मद, राग, द्वेष को छोड़ता हुआ मिथ्याज्ञान को नहीं देखता हुआ आत्मा शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता है, यही अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत है। यह बारहवाँ व्रत इसे कहते हैं। श्रावक-श्रावक कहे, परन्तु आत्मा अन्दर शुद्ध आनन्द का भोजन अतिथि भगवान आत्मा, उसे अन्नदान आनन्द का न दे, बाहर से मात्र आहारदान दे तो शुभराग होगा, पुण्यबंध हो जाएगा। जन्म-मरण का अन्त यह बारहवाँ व्रत बाहर से व्यवहार से आता नहीं, निश्चय से आता है। ओहोहो! सार-सार निकला है। पश्चात् ४९७ है न?

सुयं विभागी सुधं, अन्यो पुग्गल विअनु अप्पानं।
विविक्त सरुव सुधं, अप्पानं परमप्पयं जानं॥४९७॥

अपने शुद्ध स्वरूप को पर से विभाग करना... लो, यह अतिथिसंविभाग व्रत। भाग करना है न? अपने आहार में से भाग करके थोड़ा मुनि को देना, यह व्यवहार विकल्प है। निश्चय से **अपने शुद्ध स्वरूप को पर से विभाग करना अतिथि सुयंविभाग है...** सेठी! बहुत शीघ्रता से बात करते हैं। **पुद्गल अन्य है, आत्मा अन्य है—ऐसा जानना...** इसका नाम अपना विभाग-संविभाग किया है। पुद्गल से और अपने आत्मा को राग से अपने आत्मा को भिन्न करना, यही अतिथिसंविभाग व्रत है। यह न हो तो मात्र मुनियों को, सच्चे मुनि हैं, सच्चे मुनि, उन्हें भी, अरे! तीर्थंकर जैसे साधु छद्मस्थ-छद्मस्थ उन्हें आहार दे तो भी शुभराग है। समझ में आया? परन्तु अपना अतिथि साधु

भगवान आत्मा, जिसकी तिथि नहीं, जिसका काल नहीं, त्रिकाल आनन्दकन्द ध्रुव पड़ा है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति का भोजन देना और पुद्‌गल से भाग करना, इसका नाम अतिथिसंविभाग कहा जाता है।

'विविक्त सुध सरुवं' अपने शुद्ध स्वरूप को जान करके आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करना अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है। लो! समझ में आया? आसन्न शब्द आता है भाई इसमें। ५०० गाथा है न!

बारह वय उवएसं, धरन्ति भावे विसुध सभावं।
आसन्न भव्य पुरिसा, न्यान बलेन निव्वुए जंति॥५००॥

यह बारह व्रत लिये। यह अन्तर के हों, निश्चय व्रत हैं। कहते हैं कि **ऊपर कहे गये बारह व्रतों का उपदेश निश्चयनय से किया गया है। जो कोई... 'आसन्न भव्य पुरिसा'** जिसका भव निकट है, संसार का नाश निकट है। अल्प काल में जिसे मुक्ति में जाना है, उसे आसन्नभव्य पुरुष कहा जाता है। **निकट भव्य पुरुष...** अल्प काल में जिसे मुक्ति होनी है, ऐसा पुरुष **अपने भावों में शुद्ध आत्मिक भाव को धारण करते हैं, वे अपने आत्मज्ञान के बल से निर्वाण को पाते हैं।** अपने ज्ञान के अन्तर के जोर से स्थिर होकर निर्वाण को पाते हैं। विकल्प बीच में आता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है, उसका निषेध हो जाता है। समझ में आया? यह हो गयी।

अब थोड़ा मान (के विषय में कहते हैं)। पृष्ठ ७८। पृष्ठ ७८ है न? क्या चलता है? पृष्ठ ७८ है न। देखो! अध्यात्म की दृष्टि से मान की व्याख्या करते हैं। १४० गाथा है, लो!

मानं च जिन उक्तं च, मानं प्रमान चिन्तनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, मानं प्रमान उच्यते॥१४०॥

है? कितनी गाथा है? १४०। **श्री जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ मान यह है जो मान परिमाण चिन्तवन करे...** अपना आत्मा जितने प्रमाण में शुद्ध है, उसका माप करके, ध्यान करके मान करे, उसका नाम मान कहा जाता है। उससे विरुद्ध रागादि का मान करे तो अनन्तानुबन्धी का मान कहा जाता है। समझ में आया? शुभराग का मान

करे कि यह मेरी चीज़ है तो उसका मान किया उसे अनन्तानुबन्धी का मान कहते हैं। और अपने शुद्ध आत्मा का मान प्रमाण करे कि मैं शुद्ध चैतन्य वीतराग पूर्णानन्द वीतराग जैसे जिनेन्द्र, वैसा मैं हूँ—ऐसा ज्ञान से अन्दर में माप—प्रमाण अन्दर में करे, उसमें से मान निकाला है। सेठी!

श्री जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ मान यह है जो मान परिमाण चिन्तवन करे आत्मा परमात्मा के बराबर है... 'अप्पा परमप्पयं तुल्यं' मान करना है न मान? माप करना है। राग का माप करता है कि शुभराग हुआ तो मुझे कल्याण होगा। यह माप तेरा अनन्तानुबन्धी का माप है, यह अनन्तानुबन्धी का कषाय है। राग हो, परन्तु वह निमित्तरूप है, बन्ध का कारण है। मेरे स्वभाव का वास्तव में साधन नहीं परन्तु राग को स्वभाव का साधन मान ले तो अनन्तानुबन्धी का माप है। राग का माप लिया कि उसमें मुझे कल्याण होगा। राग का बहुमान किया। अपना बहुमान किसे कहते हैं? कि अपनी शुद्ध चैतन्य रागरहित विकल्परहित चैतन्य मूर्ति प्रभु आत्मा परमात्मा तुल्य है, ऐसा अपने ज्ञान प्रमाण करना, उसे आत्मा का मान कहा जाता है। शोभालालजी! सब बात ही दूसरी है। सागर में सुनी नहीं होगी, लो! '**मानं प्रमान उच्यते**' देखो, इसमें बात करते हैं। फिर १४१।

मानं लोकालोकांतं, त्रिलोकं भुवनत्रय।
केवलदर्सन न्यानं च, मानं सर्वन्य पूजते॥१४१॥

'मानं लोकालोकांतं, त्रिलोकं भुवनत्रय' मान अर्थात् सम्यग्ज्ञान तीन लोक को तथा अलोक को देखने-जाननेवाला है। मान अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी प्रमाण अपना प्रमाण हुआ। प्र-माण। प्र निकाल दो तो मान। मान अर्थात् माप। माप कहते हैं न? माप। माप कहते हैं यह दाने इतने हैं, यह ... इतने हैं, ऐसा माप करते हैं न? तो अपने आत्मा का माप किया कि मैं तो सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा हूँ, शक्ति में तो मैं परमात्मा हूँ। राग और विकल्प मेरी वस्तु में नहीं है। ऐसा **सम्यग्ज्ञान तीन लोक को तथा अलोक को देखने-जाननेवाला है। वही केवलदर्शन व केवलज्ञान स्वरूप है, ऐसे मान के धारी...** ऐसे प्रमाण को धरनेवाला, ऐसे मान को धरनेवाला, ऐसे सर्वज्ञ **भगवान है, जो पूजनिक अर्हंत हैं।** वास्तव में सर्वज्ञ भगवान ही मान है। उनके पास मान है, माप है।

तीन काल-तीन लोक उस मान में आ गये हैं। कहाँ द्रव्य जीव है, कहाँ उसकी पर्याय होगी? भूत की, वर्तमान, भविष्य की सब उनके मान में, मान अर्थात् प्रमाण में, प्रमाण अर्थात् ज्ञान में माप आ गया है। तो वास्तव में तो अरिहन्त भगवान ही मानवाले हैं, प्रमाणवाले हैं। यह मान निकालकर ऐसे प्रमाण ले लिया, गुलाँट खाकर। आत्मा का मान ले लिया। समझ में आया? थोड़ा अनन्तानुबन्धी का आया है न! वह भी है सही परन्तु चिह्न किया नहीं कहीं।

माया शुद्धं। १४८। १४८। १४८ है। यहाँ तो अपने शुद्ध में लेना है न! वह अशुद्ध तो एक ओर निकाल दिया।

माया सुधं जिन प्रोक्तं, त्रिलोक त्रिभुवन मयं।
ति अर्थ षट् कमलस्य, पंचदीप्ति प्रस्थितं॥१४८॥

देखो, यह तारणस्वामी माया का अर्थ करते हैं। माया कहते हैं न? **जिनेन्द्र भगवान ने कहा है... 'जिन प्रोक्तं'** है न पण्डितजी! **'जिन प्रोक्तं' 'प्रोक्तं', 'प्रोक्तं'** भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा समवसरण में फरमाते हैं कि **शुद्ध माया या लक्ष्मी...** उसे माया कहते हैं न? यह मायावाला प्राणी है। इसकी माया इतनी है, ऐसा कहते हैं न? माया इतनी है। पचास लाख की माया, पच्चीस लाख की माया। यह माया नहीं, यह तो अशुद्ध माया है। **माया या लक्ष्मी तीन लोक के पदार्थ हैं, जिनसे तीन भुवन रचा हुआ है या तीन पदार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं या छह अक्षरी मन्त्ररूपी कमल है या पाँच प्रकाशमान परमेष्ठी हैं या पाँच परमेष्ठी में पाये जानेवाले पाँच ज्ञान हैं।** ऐसी अपनी ज्ञानरूपी लक्ष्मी को माया कहा जाता है। जिस लक्ष्मी से लोकालोक का ज्ञान होता है और जिस लक्ष्मी से ज्ञान प्रगट हुआ उसे पाँचवाँ केवलज्ञान भी प्रगट होता है। यह लक्ष्मी। लोग नहीं कहते? धन धन को बढ़ाता है। क्या कहते हैं? ऐसा कहते हैं न, हमारी भाषा अपने काठियावाड़ी में नहीं? पंड रळे तो पेट भराय, पंड रळे तो पेट भराय, ऐसा हमारे कहते हैं। धन रळे तो ढगला थाय। धन बहुत हो न, ब्याज और बहुत (कमाये) तो ढ़ेर हो। यहाँ कहते हैं कि वह धन कौनसा? अपने स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान की लक्ष्मी, धन कमावे तो ढ़ेर हो। यह लक्ष्मी हो तो केवलज्ञान के ढ़ेर हों। ....भाई!

समझ में आया? यह कहते हैं, देखो! '**पंचदीप्ति प्रस्थितं**' ऐसी सम्यग्ज्ञानरूपी लक्ष्मी से परमेष्ठी पद की प्राप्ति, ... अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसे वास्तव में माया कहा जाता है।

माया न्यान समं जुक्तं, माया दर्संति दर्सनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, माया मुक्ति पंथं ध्रुवं॥१४९॥

'**माया**' अर्थात् **लक्ष्मी रूप माया वह है जो ज्ञान को समतारूप व यथार्थ जाना जाये...** अपने स्वरूप को समतारूप में यथार्थरूप से जाने, उसे माया कहते हैं। समझ में आया? सब अर्थ बदल दिये। **लक्ष्मीरूपी माया सम्यग्दर्शन को देखनेवाली है...** देखो, लक्ष्मी—सम्यग्ज्ञानरूपी माया सम्यग्दर्शन को देखनेवाली है। अथवा '**दर्संति दर्सनं**' अपने स्वरूप को दिखाती है। **आत्मा परमात्मा के समान ऐसी आत्मज्ञानमयी माया या लक्ष्मी मोक्षमार्ग है, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।** है न? बुद्ध ने। यह सर्वज्ञ ज्ञानियों ने माया का निश्चय लक्षण यह बनाया है। बाहर माया, कपट और कुटिल है, वह जरा पापबंध का कारण है। वह वास्तविक माया नहीं, तेरा स्वरूप ही वास्तविक माया है, लो! इतना उसमें आया। समझ में आया?

एक दूसरी बात लेते हैं, भाई! २३९ पृष्ठ पर है। २३९। २३९ यह आ गया है। यह द्रुपद परिग्रह किसे कहते हैं? द्रुपद, चौपद आता है या नहीं? दो पैर मनुष्य और उसका परिग्रह तथा चार पैर जो ढ़ोर, उसका परिग्रह किसे कहते हैं?

दुपदं दुबुहि जुत्तं, अन्यानं न्यान सुद्ध पद रहियं।
दुपदं अनिस्ट दिस्टं, इस्टं विओय दुपद तिक्तं च॥४४३॥

दुपद परिग्रह दासी-दास को कहते हैं, अन्तरंग में दुपद परिग्रह दुर्बुदि सहित भाव को कहते हैं... '**दुपदं**' '**दुपदं**' दो पैरवाला, यह बाहर। यहाँ '**दुपदं**' अर्थात् बुरा पद, बुरा पद अज्ञान राग-द्वेष। मेरा शुद्ध स्वभाव, मेरे राग से प्राप्त होगा, पुण्य से प्राप्त होगा, निमित्त से प्राप्त होगा, ऐसा जो अज्ञान और मिथ्याश्रद्धा, वह दुपद का परिग्रह मिथ्यादृष्टि ने पकड़ रखा है। ऐसा परिग्रह छोड़े बिना तेरे स्त्री, कुटुम्ब का दुपद छोड़ दे तो उसे हम परिग्रह का त्याग नहीं कहते। समझ में आया? क्या कहा?

'दुपदं' अन्दर में जो अपना शुद्धपद आत्मा है, उसके विरुद्ध श्रद्धा, पुण्य से धर्म मानना, पाप में सुख मानना, निमित्त से अपने में कार्य मानना—ऐसा अज्ञानरूपी दुपद है मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान, उस दुपद का परिग्रह, वही मिथ्यात्व का परिग्रह है। उसका त्याग किये बिना बाहर का परिमाण, कोई परिमाण कहते थे न, लो इस समय आ गया है। तुम कहते थे न कि परिग्रह प्रमाण। कोई पूछता था किसी समय। ... ख्याल में तो एक बार आया था, ख्याल में रह गया। समझ में आया? रतनलालजी! प्रश्न करते थे सेठ। परिमाण, परन्तु किसका परिमाण? पहले **'दुपदं'** अपना अज्ञान, राग-द्वेष, मिथ्या श्रद्धा के त्याग बिना तुझे परिमाण किसका करना है? यहाँ तारणस्वामी कहते हैं कि अरे भाई! तू चैतन्यमूर्ति भगवान है, उसके विरुद्ध श्रद्धा, विकल्प और विकार से लाभ माननेवाले, संयोग की क्रिया हम करनेवाले, ऐसे मिथ्या श्रद्धा, अज्ञान रखता है और उसे छोड़े बिना परिग्रह का परिमाण करता है, तेरा परिग्रह का परिमाण सच्चा परिमाण है ही नहीं। शोभालालजी! समझ में आया?

दुपदं दुर्मति जुत्तं, हिंसानंदी च दुर्बुधिं जुत्तं।
दुपदं निगोय भावं, न्यान सहावेन दुपद तिक्तं च॥४४४॥

... बात की है। समझ में आया? यह **दुपद कुमतिज्ञान सहित भाव है, हिंसानंदी और मिथ्या शास्त्रज्ञान सहित है...** कुशास्त्र का ज्ञान और व्यवहारज्ञान से निश्चय प्राप्त होता है, निश्चय में व्यवहार की सहायता है, ऐसा निकालता है, वह सब मिथ्या शास्त्रज्ञान है। **दुपद निगोद में ले जानेवाला भाव है...** वह दुपद निगोद में ले जानेवाला भाव है। वह दुपद परिग्रह मिथ्यात्व और अज्ञान। **इसलिए निर्ग्रन्थ साधु ज्ञान स्वभाव में ठहरकर दुपद परिग्रह का त्याग कर देते हैं।** अब एक चतुरपद रह गया है। लो! **'चतुपद चौगइ सहियं'** चार पैर यह पशु है न, उनका प्रमाण करना। यह प्रमाण बाहर का है। तेरा प्रमाण अन्दर कर न!

चतुपद चौगइ सहियं, चौगइ चौकषाय संजुत्तं।
घाय चवक्कय सहियं, चौविहि बंध च बंध सहकारं॥४४५॥

ठिदि अनुभाग स उत्तं, प्रकृति प्रदेस बंध सुह असुहं।
चौपद बन्ध सहावं, न्यानबलेन चौपदं तिक्तं॥४४६॥

लो, यह चार प्रकार हैं। चार गति के भाव का छेदन करना, उसने चार पद का परिमाण किया। '**चौगइ**' चार कषाय का त्याग करना, उसने चौ पद का त्याग किया। चार घाति का नाश करना, चार बन्ध का नाश करना और बन्ध में भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश—चार। यह प्रकृतिबन्ध आदि... '**चौपद बन्ध सहावं,**' यह '**न्यानबलेन चौपदं तिक्तं**' ज्ञानस्वरूप के जोर से उसका त्याग करना, यह चतुर्पद का परिमाण किया और चतुर्पद का त्याग किया, ऐसा बारह अंग में यह सार कहा गया है। यह चौ पद का कहा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)